RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 | अंक - 2 | मार्च-अप्रैल-मई-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परम्परा में वैदिक वास्तुकला

राजीव कुमार शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वैदिक काल में वास्तुकला एक विकसित और सुव्यवस्थित कला थी। वैदिक साहित्य में विश्वकर्मा को विश्व-निर्माता और प्रथम शिल्पी कहा गया है, और उसी के आधार पर मानव-निर्मित भवनों को 'भौम विश्वकर्मा' का कार्य माना गया। द्यावा-पृथ्वी को महावृक्ष की तरह तराशकर बनाने की कल्पना वैदिक लोगों की स्थापत्य-दृष्टि का दार्शनिक रूप प्रस्तुत करती है।

वैदिक घरों के लिए दम, सदन, पस्त्या, हर्म्य, शरण आदि कई शब्द मिलते हैं, जो यह दर्शाता है कि घरों के प्रकार और उपयोग विविध थे। एक साधारण वैदिक गृह तीन मुख्य भागों में बँटा होता था—पहला, आँगन और गृहद्वार वाला बाहरी क्षेत्र, जहाँ अतिथि का स्वागत और घरेलू कार्य होते थे। दूसरा भाग सदस् या बैठक था, जो सामाजिक जीवन का केंद्र था और बाद में राजप्रासादों में सभा-मण्डप बन गया। तीसरा भाग पत्नीसदन या हर्म्य था, जो परिवार—विशेषकर स्त्रियों—का निजी आवास था और आगे चलकर अंत:पुर के रूप में विकसित हुआ।

हर घर में अग्नि-आधान हेतु एक विशेष कक्ष होता था, जिसे अग्निशाला कहा जाता था। यह वैदिक धार्मिक जीवन का केंद्र था। बाद के राजप्रासादों में यही स्थान देवगृह में बदल गया। निर्माण सामग्री मुख्यत: लकड़ी, घास-फूस, मिट्टी और बाँस होती थीं, जिससे पता चलता है कि भवन भले ही सरल थे, पर उनकी योजना और उपयोगिता अत्यंत स्पष्ट थी।

वैदिक कालीन गृह-निर्माण

वैदिक साहित्य में घरों के निर्माण-सामग्री और तकनीक के अनेक रोचक उल्लेख मिलते हैं। वैदिक युग के घर सामान्य होते हुए भी अत्यंत कौशलपूर्ण ढंग से बनाए जाते थे। निर्माण में मुख्यत: मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और बाँस का प्रयोग होता था। घरों की नींव (ध्रुव) बहुत मजबूत बनाई जाती थी, जिससे भवन स्थायी रहे। दीवारों पर छत टिकाने के लिए पहले कोरे बाँस आड़े-तिरछे बिछाए जाते थे; उनके ऊपर चोरे बाँसों की परत रखी जाती थी और मजबूत रस्सियों से कसकर बाँधा जाता था। इस बाँस-बिछावन को 'आयाम' कहा गया है। आयाम पर तृण और पत्तों की परतें बिछाई जाती थीं जिन्हें 'वर्हण' कहा जाता था। सबसे ऊपर बाँस की खपच्चियाँ मजबूती से लगाई जाती थीं, और इस प्रकार छत तैयार होती थी। बड़ी छतों के नीचे थूनियाँ या मजबूत लकड़ी की बल्लियाँ सहारा देती थीं। आज भी भारत के कई ग्रामीण क्षेत्रों में इसी शैली के घर मिल जाते हैं।

कुछ वैदिक घर बहुकक्षीय (मल्टीरूम) भी होते थे। घरों की सुरक्षा का ध्यान रखा जाता था और

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

उन्हें आवश्यकतानुसार बंद भी किया जा सकता था। वैदिक लोग घरों को सुंदर और साफ रखने पर बहुत ध्यान देते थे। अथर्ववेद में घर की तुलना अलंकारों से सजी हथिनी से की गई है, जिससे पता चलता है कि घर सौंदर्य और शिल्प का केंद्र था। हथिनी की पीठ जैसे ढोलाकार आकार वाले घर भी प्रचलित थे। दीवारों के भीतर और बाहर सुंदर चित्रांकन किया जाता था। सुशोभित घर को सुसज्जित वधू की तरह माना गया है—यह दर्शाता है कि घर सौंदर्य, पवित्रता और सुख-समृद्धि का स्थान था।

शतपथ ब्राह्मण में घर के विभिन्न कक्षों का विस्तृत और रोचक वर्णन मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन वास्तुकला योजनाबद्ध, व्यवस्थित और सौंदर्यप्रधान थी।

वैदिक काल में घर बनाना केवल तकनीकी कार्य नहीं था, बल्कि एक धार्मिक और शुभ संस्कार माना जाता था। अत: निर्माण आरम्भ करने से पहले विशेष पूजा-विधान का प्रचलन था। ऋग्वेद में कई बार 'वास्तोस्पति' देवता का उल्लेख मिलता है। नाम से स्पष्ट है कि वास्तोस्पति वास्तु (गृह) का रक्षक एवं स्वामी माना गया है।

गृह-निर्माण की आरम्भिक प्रक्रिया में: भूमि चयन, दिशा निर्धारण, आधार (नींव) की पवित्रता, तथा देवताओं का आवाहन जैसी विधियाँ शामिल थीं।

ऋग्वेद के अनुसार कभी-कभी वास्तोस्पति को इन्द्र के समान माना गया है, और एक अन्य स्थान पर त्वष्ट्रा के साथ भी उनकी समानता बताई गई है। त्वष्ट्रा को बाद के साहित्य में कुशल कारीगर और शिल्प-देव कहा गया है।

इन्द्र के रूप में वास्तोस्पति से यह प्रार्थना की गई है कि— 'हे इन्द्र! तुम हमारे गृहपति बनो। हमारा घर, विशेषकर उसका स्तम्भ (स्थाणु), दृढ़ और सुरक्षित हो।'

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक लोग घर को देवताओं की कृपा से सुरक्षित और स्थिर मानते थे, और गृह-निर्माण को पवित्र अनुष्ठान के रूप में करते थे।

ऋग्वेद में 'गृह' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से निवास, घर या आवास के अर्थ में हुआ है। यही अर्थ अथर्ववेद और ब्राह्मण-ग्रंथों में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त 'दम', 'पस्त्या', 'हर्म्य' जैसे शब्द भी घर तथा उससे जुड़ी पारिवारिक संपत्ति या निवास-स्थान को दर्शाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यह शब्द-संपदा बताती है कि वैदिक समाज में घर की संरचना, उपयोग और महत्व का स्पष्ट ज्ञान था।

ऋग्वेद में लगभग तीस शब्द निवास-स्थानों तथा घर के विभिन्न हिस्सों के लिए मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'छरदी' शब्द छत का सूचक है। 'दुरोण' और 'दुयंसु' से यह पता चलता है कि वैदिक घरों में द्वार (दरवाजे) होते थे और प्रवेश व्यवस्था पर ध्यान दिया जाता था। कुछ घरों के बारे में ऋग्वेद में 'पृथु', 'ऊरु', 'गभीर', 'दीर्घ', 'वृहत्', 'मोही' जैसे विशेषण मिलते हैं, जिनसे समझ में आता है कि उस समय बड़े और विस्तृत घर भी बनाए जाते थे।

कुछ दैविक गृहों का वर्णन अत्यंत भव्य रूप में मिलता है। जैसे—वरुण के गृह को 'सहस्त्र द्वारम्' अर्थात् हजार द्वारों वाला विस्तृत भवन कहा गया है। मित्र-वरुण के गृह को दृढ़ (ध्रुव) तथा सहस्त्र-स्थुन (हजार स्तंभों वाला) बताया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिक कल्पना में भव्यता और वास्तुकला का विशेष स्थान था।

भोज-गृह की तुलना 'तालाब' से की गई है, जिससे यह संकेत मिलता है कि भोज-स्थल विशाल, खुला और समृद्ध व्यवस्था वाला होता था। कुल मिलाकर, वैदिक साहित्य में 'गृह' केवल निवास नहीं था, बल्कि सामाजिक जीवन, सौंदर्य, स्थिरता और समृद्धि का केंद्र माना गया है।

वैदिक काल में घरों के आकार और प्रकार विविध थे। छोटे साधारण गृहों के साथ-साथ बड़े और विशाल भवन भी बनाए जाते थे। बड़े घरों को 'वृहत्-मान' कहा जाता था। ऋग्वेद में पृथु, मोही, उरू, दीर्घ, गंभीर इत्यादि विशेषणों से स्पष्ट होता है कि कुछ गृह अत्यंत विस्तृत और विशाल होते थे। यह वैदिक समाज की वास्तुकला-समझ और निर्माण कौशल का प्रमाण है।

ऋग्वेद में एक सम्राट का उल्लेख मिलता है जो हजार स्तम्भों वाले ललित और दृढ़ प्रशाल में बैठकर प्रजा के साथ सहृदय व्यवहार करता था। मित्र और वरुण के महलों का वर्णन भी सहस्त्र स्तम्भों और सहस्त्र प्रवेश-द्वारों वाले भवन के रूप में हुआ है, जो वैदिक कल्पना में भव्य वास्तुकला की परिकल्पना को दर्शाता है। एक स्थान पर अत्रि को सौ-द्वार वाले यंत्रकोष्ठ में डालने का वर्णन है, जिससे बहु-द्वारों वाली संरचनाओं की जानकारी मिलती है।

बाद के काल में—विशेषकर मौर्य और मध्यकाल में—मदुरा और चिदंबरम् के विशाल सभामंडप संभवत: इसी वैदिक परंपरा से प्रेरित थे। कुमराहार में चंद्रगुप्त मौर्य काल के 80 स्तम्भों वाले सभामंडप के अवशेष मिले हैं, जिसे विद्वान वैदिक 'एक-शत-स्तम्भ मंडप' की परंपरा का अवतार मानते हैं।

वैदिक काल में 'सभा' और 'समिति' दो प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ थीं।

* **सभा**— राज्य के वृद्ध और अनुभवी व्यक्तियों की छोटी संस्था।

* **समिति** — राज्य की संपूर्ण प्रजा के अधिवेशन की बड़ी संस्था।

इसीलिए इनके लिए क्रमश: सभा हेतु सौ स्तम्भों वाले मंडप, तथा समिति हेतु हजार स्तम्भों वाले विशाल मंडप के उपयोग का संकेत मिलता है। सहस्त्र स्तम्भ वाले प्रासाद-भाग को 'सदस' भी कहा गया है। यह सब प्राचीन भारतीय वास्तुकला में वैदिक परंपरा की गहरी जड़ें और राजनीतिक-सामाजिक जीवन में वास्तु-संरचना के महत्व को दर्शाता है।

ऋग्वेद में पर्जन्य की स्तुति करते हुए उससे 'शरण' (आश्रय) और 'शर्म' (गृह/सुरक्षा/सुख) देने की प्रार्थना की गई है। 'शर्म' के लिए प्रयुक्त 'त्रिधातु' विशेषण वैदिक भवन-रचना के रोचक संकेत देता है। सायण के अनुसार इसका अर्थ तीन मंजिलों वाला भवन या मनुष्य के तीन तत्त्वों से संबद्ध सुख भी हो सकता है। सायण एक अन्य स्थान पर 'त्रिधातु' का आशय तीन स्थानों वाले निवास से भी बताते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक समाज कई तलों/भागों में विभाजित भवनों की कल्पना से परिचित था।

वैदिक काल में कुछ भवन इतने बड़े होते थे कि उनमें एक विशाल संयुक्त परिवार एक साथ रह सकता था। कई जगह बहुमंज़िली संरचनाएँ भी मिलती हैं। मुख्य भवन के साथ जुड़ा हुआ या उसके पास ही पशुओं का बाड़ा—'गोष्ठ' होता था। कभी-कभी चौड़े आँगन में भी पशुओं के लिए स्थान निर्धारित रहता था।

घर का एक विशेष भाग अग्नि-स्थान (गार्हपत्य) के लिए सुरक्षित रहता था, जहाँ दैनिक वैदिक

अग्निकर्म किए जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता 'धनधानी' शब्द किसी विशेष कक्ष की ओर संकेत करता है—संभावतः यह घर का कोषागार या मूल्यवान वस्तुओं का सुरक्षित भंडार रहा होगा।

अथर्ववेद में 'पत्नीनाम् सदन' का उल्लेख मिलता है, जो दर्शाता है कि स्त्रियों के लिए अलग कक्ष या आवास-भाग होते थे। इससे पता चलता है कि वैदिक गृह-योजना केवल निवास ही नहीं बल्कि परिवार की संरचना, सुरक्षा, धार्मिक कर्तव्यों और पशुपालन, सभी को ध्यान में रखकर बनाई जाती थी।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।

अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निगर्भइवा शये ।।

अथर्ववेद में वर्णित 'शालाएँ' वैदिककालीन भवन-निर्माण की उन्नत परंपरा का परिचय देती हैं। ग्रंथ में दो, चार, छह, आठ और दस कक्षों या मंजिलों वाले भवनों का उल्लेख मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय बहुमंजिली निर्माण कला अत्यंत विकसित थी। इन शालाओं को केवल रहने की जगह नहीं, बल्कि बहुउद्देश्यीय संरचना के रूप में देखा गया है।

प्रतीची शाला का संदर्भ बताता है कि घरों का निर्माण दिशा-विशेष को ध्यान में रखकर किया जाता था। एक स्थान पर कहा गया है कि शाला अपने भीतर अग्नि, पशु और मनुष्य—तीनों को समाहित कर लेती है, जो यह प्रमाणित करता है कि वैदिककालीन घरों में परिवार, अनुष्ठान और पशु-पालन तीनों के लिए सुनियोजित व्यवस्था होती थी।

वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ।

मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती।

शाला को वधू के समान पोषित और हस्तिनी की भाँति दृढ़ बताया गया है। ये उपमाएँ दर्शाती हैं कि भवन केवल उपयोगिता के आधार पर नहीं, बल्कि सौंदर्य, स्थिरता और सामर्थ्य के आधार पर भी निर्मित होते थे। इन उपमाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि घर को वैदिक समाज में एक जीवंत, पोषक और गरिमामयी इकाई माना जाता था।

यद्यपि 'शाला' शब्द के लिए कोई निश्चित वास्तु-परिभाषा नहीं दी गई है, परंतु डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि यह मध्यम वर्ग द्वारा उपयोग में आने वाले आवास थे, न अत्यधिक भव्य, परंतु सुगठित, टिकाऊ और सुव्यवस्थित।

वैदिक काल में भवन तीन वर्गों में विभाजित थे—पहली श्रेणी में राजाओं व उच्चवर्ग के विशाल, सुदृढ़ और अलंकृत भवन; दूसरी श्रेणी में मध्यम वर्ग के संतुलित व व्यावहारिक घर; और तीसरी श्रेणी में साधारण झोपड़ियाँ या पर्णशालाएँ, जिनका उपयोग तपस्वी, वानप्रस्थी और निम्नवर्ग के लोग करते थे। पर्सी ब्राउन के अनुसार आरंभिक वैदिक गृह मुख्यतः गोलाकार झोपड़ियों के रूप में थे, जिन्हें बाँस की लचीली टहनियों और पत्तों से गुम्बदाकार छतों के साथ बनाया जाता था। बाद में यही झोपड़ियाँ अंडाकार रूप में विकसित हुईं, जिनकी छतों में बाँस व लकड़ी का अधिक उपयोग होने लगा।

समय बीतने के साथ तीन-चार झोपड़ियाँ पास-पास बनाकर उनके बीच एक खुला आँगन रखा जाने लगा—यही वैदिक गृह-रचना के विकसित रूप की शुरुआत थी। आगे चलकर जैसे-जैसे आर्य अधिक

संगठित और सभ्य होते गए, वे झोपड़ियों से आगे बढ़कर व्यवस्थित गृह-निर्माण की ओर अग्रसर हुए।

वैदिक भवन एक निश्चित योजना से बनाए जाते थे। निर्माण की शुरुआत एक मुख्य स्तम्भ (स्कम्भ/स्थूण) स्थापित करने से होती थी, जो घर का केंद्रीय आधार माना जाता था। इन्द्र को इसी कारण स्कभीयान् अथवा श्रेष्ठ स्तम्भ का देवता कहा गया है। घर के लिए सुदृढ़ आधार-स्तम्भ की याचना भी ऋग्वेद में मिलती है। स्तम्भ का अधिष्ठान 'धरुण' कहलाता था, जो आगे चलकर धारण करने वाले आधार के अर्थ में प्रसिद्ध हुआ। बड़े स्तम्भों, ऊँचे स्तम्भों और उनकी लाटों का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ ऊँचे स्तम्भों को समृद्धि का प्रतीक माना गया है।

अथर्ववेद में शाला निर्माण के लिए बृहस्पति, सविता, वायु और इन्द्र से उचित स्थान और मजबूत स्तम्भ स्थापित करने का आह्वान मिलता है। मरुतों से शाला को घृत और जल से सिंचित करने तथा भगदेव से भूमि को उपजाऊ और शुभ बनाने की प्रार्थना की गई है—जो दर्शाता है कि गृह-निर्माण एक धार्मिक और आध्यात्मिक प्रक्रिया भी थी।

स्तम्भों के ऊपर लकड़ी के आड़े बल्ले रखे जाते थे, फिर इनके ऊपर बाँसों का आड़ा-तिरछा ढांचा बनाया जाता था, जिसे रस्सियों से बाँधा जाता था। छत निर्माण की दो प्रक्रियाएँ थीं—पहली में बाँसों की जाली बिछाकर ऊपर से चीरे हुए फट्टे लगाए जाते थे, जिसे आयाम कहा जाता था; दूसरी में फूस की कई तहें बिछाई जातीं, जिसे बर्हण कहा गया है। अंत में बाँस की खप्पचियों की एक ऊपरी परत लगाई जाती थी, जिसे दोनों परतों को गूँथकर दृढ़ बनाया जाता था। बड़ी और चौड़ी छतों को सँभालने के लिए मोटी बल्लियाँ या थूनियाँ सहारे के रूप में लगाई जाती थीं।

पर्सी ब्राउन के अनुसार वैदिक गृहों का प्रारम्भिक स्वरूप साधारण झोपड़ियों और पर्णशालाओं से जुड़ा था। शुरुआती दौर में मनुष्य गोल आकृतियों को अधिक पसंद करता था, इसलिए वैदिक झोपड़ियाँ भी गोल, मधुमक्खी के छत्तों जैसी प्रतीत होती थीं। इनकी गोल दीवारें बाँस की लचीली टहनियों को बाँधकर तैयार की जाती थीं और ऊपर पत्तों या घास के छप्पर से गुम्बदाकार छत बनाई जाती थी। बिहार की बाराबर पहाड़ियों में सुदामा गुहा इसी प्रकार की झोपड़ी की पत्थर में बनाई गई प्रतीकात्मक छवि है।

समय के साथ इन गोल झोपड़ियों का आकार विकसित होकर अंडाकार होने लगा। छतें मुड़े हुए बाँसों से ढोलनुमा बनती थीं और निर्माण कला अधिक व्यवस्थित रूप लेती गई। आगे चलकर तीन-चार झोपड़ियों को पास-पास बनाकर उनके बीच एक खुला आँगन रखा जाने लगा, जिससे गृह का रूप अधिक संगठित दिखने लगा।

धीरे-धीरे घरों में कच्ची ईंटों की दीवारें बनने लगीं, दरवाजे चौकोर बनाए गए और दो किवाड़ों के उपयोग का प्रचलन भी बढ़ा। लकड़ी के तख्तों और खपरैलों से छतों को अधिक मजबूत व आकर्षक रूप दिया गया। ढोलाकार छतों के विकास से ही बाद में 'अश्व-नाल' जैसे स्थापत्य रूपों की नींव पड़ी—जो प्राचीन भारतीय वास्तुकला की उल्लेखनीय उपलब्धि मानी जाती है।

वैदिक गृहपति अपने गृह को केवल निवासस्थान नहीं, बल्कि एक देवी के रूप में मानकर उसकी पूजा करता था। घर को गोमती, अश्वावती, पयस्वती, धृतवती, ऊर्जस्वती और सूनृतावती जैसी देवियों द्वारा प्रदान किए गए सौभाग्य का प्रतीक माना जाता था। इसलिए घर का निर्माण केवल भौतिक प्रक्रिया नहीं,

बल्कि श्रद्धा, आस्था और समृद्धि की आकांक्षा का पवित्र कार्य था। अथर्ववेद में घरों को पवित्र, जीवनदायिनी और सुख-समृद्धि का केंद्र माना गया है।

शाला-निर्माण के संबंध में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अथर्ववेद के 'वृहच्छन्दा:' (अथर्ववेद 3/12/3) शब्द की विशेष व्याख्या की है। उनके अनुसार 'वृहच्छन्द' शब्द का संबंध गृहनिर्माण की दो मुख्य संकल्पनाओं–ब्रह्मसूत्र और गर्भसूत्र से है।

(1) ब्रह्मसूत्र :- डॉ. अग्रवाल के मतानुसार ब्रह्मसूत्र का अर्थ घर या प्रासाद के उत्सेध, उदय या भूलम्ब से है–अर्थात् वह सूत्र जिसके अनुसार एक मंजिल पर दूसरी मंज़िल का निर्माण किया जाता है। वैदिक मंत्र में आए हुए वाक्य 'कोशे कोश: समुज्जित:' से स्पष्ट है कि एक तल्ले के ऊपर दूसरा तल्ला चढ़ाया जाता था। इससे वैदिक समाज में बहुमंजिली इमारतों के ज्ञान का संकेत मिलता है। दूसरे शब्दों में– ब्रह्मसूत्र = ऊर्ध्वच्छन्द (ऊपर उठने वाली संरचना)।

(2) गर्भसूत्र :- इसके विपरीत, गर्भसूत्र से तात्पर्य भूमितल पर निर्मित कक्षों से है। अथर्ववेद में आए वाक्य 'कुलायेऽधि कुलायम्' से स्पष्ट होता है कि घर के भीतर धरातल पर विभिन्न 'कुलाय' अर्थात् कक्ष या कक्ष-समूह बनाए जाते थे। इस दृष्टि से गर्भसूत्र = भूमिछन्द (भूमि पर विस्तारित योजना)।

इस प्रकार 'वृहच्छन्द' शब्द वैदिक गृहनिर्माण की उस परिपक्व योजना का संकेत देता है जिसमें घर का ऊर्ध्व (ऊपर उठता हुआ) और गर्भ (भूमिगत/भूमितल)–दोनों प्रकार का विन्यास शामिल था। इससे पता चलता है कि वैदिक काल में वास्तु-विज्ञान केवल झोपड़ियों तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्नत निर्माण सिद्धांतों तक पहुँच चुका था।

ग्राम – वैदिक काल में ग्राम-व्यवस्था का स्वरूप

वैदिक काल में ग्राम सामाजिक जीवन की मूल इकाई था। अनेक गृह, कुल या परिवार मिलकर एक ग्राम का निर्माण करते थे। ग्राम केवल निवास-स्थल ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा प्रशासनिक गतिविधियों का केंद्र था। प्रत्येक ग्राम का एक प्रधान होता था जिसे ग्रामणी कहा जाता था। उसका काम सुरक्षा, न्याय, खेती-बाड़ी, सामाजिक अनुशासन और ग्रामवासियों के समन्वय को बनाए रखना होता था।

ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में 'ग्राम' शब्द के अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिससे इस संस्था का व्यापक महत्व सिद्ध होता है।

वैदिक ग्राम सभी आवश्यक सुविधाओं से युक्त हुआ करते थे। जनसंख्या, भूमि-विस्तार और महत्व के आधार पर कुछ ग्राम छोटे होते थे तो कुछ बड़े, जिन्हें महाग्राम कहा गया है। ग्राम प्राय: एक-दूसरे के निकट बसे होते थे, किंतु कुछ दूर-दूर स्थित ग्राम भी मिलते हैं, जो आपस में सड़कों और पगडंडियों द्वारा जुड़े रहते थे।

इतिहासकार हेबेल के अनुसार, वैदिक ग्राम आयताकार होते थे और उनके चारों ओर चार द्वार बने होते थे, जो आवागमन और सुरक्षा दोनों के लिए आवश्यक थे।

पर्सी ब्राउन का मत है कि वैदिक ग्रामों के चारों ओर लकड़ी की बाड़ या परकोटा बनाया जाता था।

यह रक्षा के लिए था ताकि पशु, वन्य जीव या शत्रु अचानक आक्रमण न कर सकें। इस बाड़ के चारों ओर एक या अधिक तोरण या द्वार बनाए जाते थे, जिन्हें चौकसी के लिए पहरेदार देखते थे।

बाड़ बनाने की यह परंपरा संभवत: आर्यों ने खेती के दौरान अपनाई थी, क्योंकि वे खेतों की सुरक्षा हेतु चारों ओर ऊँची मुँड़ेरें बनाते थे—यह प्रथा आज भी भारतीय ग्रामीण खेती में प्रचलित है।

समय बीतने के साथ यह परकोटा-परंपरा केवल ग्राम-सुरक्षा तक सीमित नहीं रही। इसका विकास आगे चलकर धार्मिक वास्तुकला में हुआ—विशेषत: जैन और बौद्ध स्तूपों के बेष्टिनी (परिक्रमा-पथ) में, जहाँ चारों ओर घिरी हुई रेलिंग और प्रवेश-तोरण वैदिक कालीन सुरक्षा-परकोटे की ही उन्नत रूपरेखा को दर्शाते हैं।

पुर

आर्यों का प्राचीन आवास मूलत: ग्राम-प्रधान था, परंतु ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रंथों में अनेक स्थानों पर 'पुर' शब्द का उल्लेख मिलता है। बाद के संस्कृत साहित्य में 'पुर' का अर्थ नगर माना जाता है, किंतु पूर्व वैदिक काल में यह शब्द अनिवार्य रूप से नगर का बोध कराता हो, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में 'पुर' का प्रयोग अनेक प्रसंगों में हुआ है और इन प्रसंगों में इसकी व्याख्या प्राय: दुर्ग, गढ़, प्राकार या सुरक्षित किलेबंद स्थलों के रूप में की गई है। उदाहरण के लिए, एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने पिप्रु असुर का पुर ध्वस्त कर दिया तथा राक्षसों को मारकर ऋजिश्वा की रक्षा की। दूसरे स्थल पर बताया गया है कि इन्द्र ने पुरु और दिवोदास के लिए शत्रुओं के पुर तोड़े। एक अन्य स्थल पर इन्द्र की युद्ध-कुशलता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे युद्धभूमि में निर्भीक होकर प्रवेश करते हैं और एक के पश्चात दूसरा पुर गिराते चले जाते हैं। कहीं उन्हें 'पुरन्दर' कहा गया है, क्योंकि उन्होंने दस्युओं और असुरों के अनेक पुरों का नाश किया। वे दस्युओं के लोह-पुर को भी तोड़ते हैं, अयाज्ञिक लोगों के गढ़ों को भी नष्ट करते हैं और शम्बर के निन्यानवें पुरों को ढहा देने का उल्लेख भी मिलता है। एक सूक्त में इन्द्र को यह कहते हुए भी चित्रित किया गया है कि उन्होंने शत्रुओं के अनेक पुर बिना किसी सहायता के ध्वस्त कर दिए।

इन सारे उल्लेखों से यह निष्कर्ष स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में 'पुर' शब्द उन सुरक्षित, किलेबंद, संगठित संरचनाओं का द्योतक था जिन्हें आर्य अपने विरोधी समुदायों—दस्युओं, दासों, असुरों, या अयज्वन् से जोड़कर देखते थे। ये वे लोग थे जिन्हें ऋग्वेद में अनेक अपमानजनक या अवमानना दर्शाने वाले विशेषणों से संबोधित किया गया है, जैसे—अनास, अदेवयु, अयज्वन्, शिश्नदेव, अकर्मन्, मृधवाच आदि। इन विशेषणों से आशय यह भी प्रकट होता है कि आर्यों ने जिन समुदायों को पराजित किया, वे उनसे भिन्न संस्कृति, भाषा और धार्मिक परंपराओं वाले लोग थे, जिन्हें आर्य वैदिक देवताओं से असंपृक्त, अस्पष्ट भाषा बोलने वाले और अपने आचरण में आर्यों से विपरीत मानते थे।

इन विरोधी समूहों में वे द्रविड़ जनजातियाँ भी शामिल थीं जिनके नगर पहले से ही सुविकसित, संरचित और योजनाबद्ध थे। यह तथ्य आज उपलब्ध पुरातात्विक प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि द्रविड़ अथवा सैन्धव सभ्यता के नगर—हड़प्पा और मोहनजोदड़ो—विश्व की सबसे प्राचीन नगर सभ्यताओं में गिने जाते हैं। उनके नगरों की योजना, ईंटों का प्रयोग, जल निकासी व्यवस्था, सड़कों एवं भवनों का स्वरूप,

तथा दुर्गीय संरचना अत्यंत उन्नत थी, जो ग्रामीण जीवन में रत आर्य समुदाय की झोपड़ियों या साधारण गृहों से कहीं अधिक विकसित थे। जब आर्यों ने इन द्रविड़ नगरों को परास्त किया, तो उनके नगर-निर्माण कौशल, दुर्ग-योजना तथा यहाँ प्रचलित शिवोपासना अथवा लिंग-पूजा जैसे सांस्कृतिक तत्वों से प्रभावित हुए। यही कारण है कि उत्तर वैदिक काल में नगर-निर्माण की परंपरा तेजी से विकसित हुई और आर्यों के राजनीतिक केंद्र ग्रामों से नगरों की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं।

वेदों में वर्णित पंचजना :— अनु, द्रुह्यु, तुर्वस, पुरु और यदु—के राज्यों में नगर निर्माण की प्रारंभिक झलक मिलती है। समय के साथ यह प्रवृत्ति उत्तर वैदिक काल में विस्तृत होकर कुरु, पांचाल, मद्र, विदेह, कौशल, काशी, मगध और अंग जैसे राज्यों में फैल गई। इन राज्यों में पुष्कलावती, तक्षशिला, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, विराटनगर, कान्यकुब्ज, अहिच्छत्र, काशी, कौशाम्बी, अयोध्या, मिथिला और प्रयाग जैसे नगर राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उभरते केंद्र बने। यही नगर आगे चलकर भारतीय सभ्यता के वैभव और वैदिक संस्कृति के विस्तार के प्रमुख आधार बने।

राज्य संगठन और प्रशासनिक ढाँचे के विकास के साथ नगरों की संरचना भी विकसित हुई। पूर्व वैदिक काल में राजा के केवल तीन अधिकारी—पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी—ही होते थे, पर उत्तर वैदिक काल में शासन-व्यवस्था जटिल हो गई और प्रशासनिक विभाग बढ़े। अब राजपुरोहित, राजमहिषी, राजपुत्र, सूत, ग्रामीण, क्षत्र, संग्रहीत (कोषाध्यक्ष), भागदुह (कराध्यक्ष), अक्षावाप (जुए का अध्यक्ष) आदि कई अधिकारी हो गए, जिनके आधार पर राजमहलों, सभा-भवनों, दुर्गों, प्राकारों और सुरक्षात्मक संरचनाओं का निर्माण आवश्यक हुआ। इस प्रकार वैदिक युग के 'पुर' अब स्पष्ट रूप से नगरों और दुर्गों के रूप में परिवर्तित हो गए।

पुरातात्विक प्रमाण भी इस परिवर्तन की पुष्टि करते हैं। मध्य प्रदेश के सागर जिले में स्थित एरण के उत्खनन से यह ज्ञात होता है कि लगभग ईसा पूर्व 1900 में वहाँ प्राकारयुक्त नगर बस चुके थे, जिनकी दीवारें काली-पीली मिट्टी से बनाई जाती थीं और तीन ओर से मजबूत प्राचीरों से घिरी थीं। चौथी ओर बीना नदी प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान करती थी। इसी प्रकार हड़प्पा में नगर के पश्चिमी भाग में एक विशाल दुर्ग मिला है, जो ऊँचे टीले पर स्थित था और जिसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई अत्यन्त प्रभावशाली थी। मोहनजोदड़ो में भी दुर्ग के अवशेष इसी प्रकार ऊँचे टीले पर स्थित पाए गए हैं। इन सभी पुरातात्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि दुर्ग-निर्माण और नगर-संरचना की परम्परा आर्यों से पहले के लोगों में विकसित थी, जिसे आर्यों ने अपनाया और उत्तर वैदिक काल में अपनी आवश्यकताओं के अनुसार आगे बढ़ाया।

इस प्रकार 'पुर' की अवधारणा वैदिक काल की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और राजनीतिक धरोहर है, जो आर्यों और अनार्यों के संघर्ष, नगर-विकास, प्रशासनिक उत्कर्ष और सभ्यता के क्रमिक उन्नयन को समझने का आधार प्रदान करती है।

वैदिक काल में भवन निर्माण कला उन्नत थी। गृह आमतौर पर आँगन, सभा और पत्नीसदन में विभाजित थे, जिनमें मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और बाँस का प्रयोग होता था। भवनों को देवीवत् पूजित किया जाता था और वास्तुशास्त्र के अनुसार निर्मित किया जाता था।

निष्कर्षतः ग्राम और नगरों का विकास हुआ; ग्राम आपस में सड़क से जुड़े होते थे और बड़े ग्रामों

को महाग्राम कहा जाता था। आर्यों ने पुर और दुर्ग निर्माण किया, सुरक्षा हेतु प्राचीर, खाई और प्राकार बनवाए। उन्होंने द्रविड नगरों से नगर–योजना और स्थापत्य कला सीखी। उत्तर वैदिक काल में प्रमुख नगर—हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, तक्षशिला, कौशाम्बी, काशी, अयोध्या, मिथिला आदि—स्थापित हुए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *वाजपेयी, कृष्णदत्त. भारतीय वास्तु कला का इतिहास (भारतीय वास्तु कला का इतिहास)। : लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1960*
2. *बाजपेयी, के.डी. सागर थ्रू द एजेस : सागर: प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर 1964*
3. *बाजपेयी, के.डी. भारतीय मुद्राशास्त्रीय अध्ययन, अभिनव प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष, नई दिल्ली : 1976–1977*
4. *Bharatiya Vastu Sastra Series - Motilal Banasidas, Varanasi 1955-75*
5. *Shatapatha Brahmna (शतपथ ब्राह्मण) : Julius Eggeling, The Shatapatha-Brahmana, Sacred Books of the East Oxford Clarendon 1882-1900 (Sacred Books of the East, Vols. 12, 26, 41, 43, 44), Oxford- Clarendon Press, 1882–1900 के बीच।*
6. *Taittiriya Aranyaka (तैत्तिरीय आरण्यक) : ग्रंथ प्रकार: कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक भाग। (1950–1960), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1950–1960*
7. *Tarapada Bhattacharya, A Study on Vastu Vidya or Canons of Indian Architecture, Punthi Pustak Calcuta, 1963*
8. *K. D. Bajpai, Sagar Through the Ages : Prof. Krishna Dutt Bajpai (K. D. Bajpai), Sagar University Publishing Vibag, सागर 1964*
9. *K. D. Bajpai, Braj ka Itihas, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970*